गीता में धर्म एवं जीवन के आदर्श

संकलनकर्ता

रामाश्रय तिवारी

प्रकाशक

श्री भुवनेश्वरी विद्या-प्रतिष्ठान

भुवनेश्वरीपीठ, बिहसड़ा, मिर्जापुर (उत्तर प्रदेश)

******

वन्दे बोधमयं नित्यं गुरुं शङ्कर रुपिणम्।
यमाश्रितो हि वक्रोऽपि चन्द्रः सर्वत्र वन्द्यते।।
वन्दे शिवं गुरुं साक्षात् दक्षिणामूर्तिरुपिणम्।
सृष्टिस्थितिलयाः तुर्यः यस्मिन् स्वाभाविकी गतिः।।

******

प्रथम संस्करण - 2019

© श्री भुवनेश्वरी विद्या-प्रतिष्ठान

प्रकाशकः

श्री भुवनेश्वरी विद्या-प्रतिष्ठान

भुवनेश्वरीपीठ, बिहसड़ा, मिर्जापुर (उत्तर प्रदेश)

मूल्य : 25/-

गीता में धर्म एवं जीवन के आदर्श

प्रकरण सूची

1.	प्रस्तावना	4
2.	अनुचित व्यवहार का निषेध	4
3.	वर्ण संकरत्व का निषेध	5
4.	असामयिक चिन्ता का निषेध	5
5.	स्वधर्म	6
6.	कर्मयोग	7
7.	स्थित प्रज्ञता	8
8.	विषय-विकारों से सावधानी	9
9.	ज्ञान और कर्म दो मार्ग	10
10.	कर्म की अनिवार्यता	11
11.	यज्ञार्थ कर्म	11
12.	लोक संग्रह	12
13.	धर्म की व्यवस्था	13
14.	वर्णव्यवस्था	13
15.	कर्म-अकर्म, कर्तव्य-अकर्तव्य का निर्णय	14
16.	विविध यज्ञ	15
17.	ज्ञानयज्ञ का महत्व	16
18.	ध्यानयोग और मनोनिग्रह	17
19.	परापरा प्रकृति विवेचन	18
20.	उपासक भेद	19
21.	श्रद्धा का महत्व	19
22.	ईश्वर की विभूति	20
23.	क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ एवं पुरुषोत्तम विचार	21

24.	प्रकृति के त्रिगुण	22
25.	दैवी तथा आसुरी सम्पत्ति	24
26.	त्रिविध श्रद्धा, यज्ञ, दान, तप आदि	25
27.	त्याग का स्वरूप	27
28.	अहंकार का मिथ्यात्व	28
29.	त्रिविधि–कर्म, बुद्धि और सुख	29
30.	प्रपत्ति मार्ग से योग सिद्धि	30
31.	ईश्वरार्पण	31
महाप्रयाण के समय श्रवणीय श्लोक		32

भूमिका

गीता एक अद्‌भुत ग्रन्थ है। भारतीय ज्ञान-विज्ञान, धर्म एवं नीति के निरूपण के लिए,महाभारत एक महाटवी की तरह दुर्गम्य है। इसमे गीता रूपी संजीवनी है जिसे आचार्य शंकर ने एक स्वतंत्र शास्त्र के रूप में प्रतिष्ठित किया। गीता पर भाष्य लिखकर आचार्यपाद ने इसे उपनिषद और ब्रह्मसूत्र के समकक्ष श्रद्धेय शास्त्र की श्रेणी में पहुँचा दिया। इस भाष्य के अनन्तर अनेक आचार्यों ने अपने-अपने सम्प्रदाय के अनुसार भाष्य लिखा। भाष्य की परम्परा के बाद गीता पर टीका लिखना आरंभहुआ। प्रत्येक भारतीयविचारक के लिए गीता पर अपनाविचार प्रकट करना एक कर्तव्य बन गया। अब भी लोग गीता पर कुछ न कुछ लिखकर अपने को विचारक सिद्ध करते हैं। परिणामतः गीता की सहस्त्रों टीकाएँ हो गयी हैं।सब में कुछ न कुछ मत-वैभिन्य भी है। विश्व की सभी भाषाओं में इसका अनुवाद हुआ है। गीता की जितनी टीकाएँ और अनुवाद हैं, उतने विश्व के किसी धार्मिक ग्रन्थ के नहीं हैं। इससे सिद्ध होता है कि गीता में विविध विषयों पर गंभीरबातें लिखी गयी हैं। केवल सात सौ श्लोकों में इतने गूढ़ विषयों का प्रतिपादन कर देना एक आश्चर्यजनक बात है। इसमें उपनिषदों की गूढ़ ज्ञानराशि तथा सांसारिक जीवन जीने की विद्या दोनों काएक साथ निरूपण है। गीता शास्त्र में सभी धर्मों और उपासना के सम्प्रदायों के लिए उपयोगी बातें मिलती हैं। इसीलिए सभी इस ग्रन्थ को अपना समर्थक मानते हैं।

भारत में ही नहीं, विदेशों में भी गीता का आदर है। अमेरिकन विचारक इमर्सन गीता से बहुत प्रभावित था। मृत्यु के बाद उसके सिरहाने गीता की पुस्तक मिली थी। प्रसिद्ध जर्मन दार्शनिक कॉन्ट बहुत तर्कों और लम्बे निर्वचन के द्वारा कर्तव्य के लिए कर्तव्य का सिद्धान्त प्रतिपादित किया है। इस सिद्धान्त का प्रतिपादन, निष्काम कर्मयोग के नाम से, गीता में, सहस्त्रों वर्श पूर्व हो चुका है। गीता में ''कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन। मा कर्म फलहेतुर्भू माते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि'' यह श्लोक चतुःसूत्री की तरह महत्वपूर्ण है। इससे कर्मयोग की पूरी व्याख्या संभव है। गीता को अपने देश का मुख्य धर्म ग्रन्थ माना जाता है। विदेश में वाइबिल तथा कुरान आदि की तरह यहाँ हिन्दुओं के लिए मान्य ग्रन्थ गीता है। इसी की शपथ हिन्दू लेते हैं। धर्मशास्त्र के विशाल भंडार में गीता की मान्यता सुमेरू मणि की तरह हो गयी है।

मनुष्य को जीवन की सार्थकता के लिए कर्म और ज्ञान दो मार्ग वेदों में बताए गए हैं। कर्म मार्ग से ही होते हुए ज्ञानमार्ग में प्रवेश की विधि वैदिक कर्मयोग में है। योग और भक्ति भी कर्म मार्ग मे हैं जिनका आश्रय लेकर ज्ञानमार्ग में शीघ्र प्रवेश संभव

है। ''तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनिन्दिति'' कहने से यह भी प्रमाणित होता है। इन सबका समन्वित ज्ञान गीता में ही मिलता है। अन्यत्र परस्पर विरोध भी दिखाई पड़ता है। गीता में कई योगों के समन्वय के साथ धर्मशास्त्र की मान्यताओं का भी पोषण विधिवत है। अनेक तरह के यज्ञों का उल्लेख तथा यज्ञ-दान और तप को महत्वपूर्ण कर्तव्य बता कर कर्मकाण्ड का पोषण किया गया है। ''यज्ञों दानंतपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्''। तथा ''यज्ञोदानं तपश्चैव न त्याज्यं कार्यमेवतत'' आदि वाक्यों से उपर्युक्त का समर्थन हो जाता है।

गीता के प्रथम अध्याय को बहुधा विद्वानों ने आदर नहीं दिया है। इसका कारण यह नहीं कि उसमें लिखी बातें सदोष है। कारण यह है कि गीता में कर्मयोग, भक्तियोग और ज्ञानयोग के अन्वेषण की परम्परा में प्रथम अध्याय अनुपयोगी है। प्रथम अध्याय भारतीय संस्कृति को प्रकाशित करताहै। वर्णसंकरत्व का प्रतिकार भारतीय समाज की प्रमुख मान्यता है। अर्जुन के द्वारा बन्धुओं की हत्या का विरोध एवं कुल परम्परा तथा परलोक में भी पड़ने वाले संकट की आशंका को प्रकट करना अधार्मिक या अशास्त्रीय नहीं था। कृष्ण ने अर्जुन की बातों को गलत नहीं कहा है। असमय से, युद्ध के मैदान में खड़े होकर,पीछे लौटने की कोई भी बात अस्वीकार्य होगी। इसलिए अर्जुन की बात उस अवस्था में अनादरणीयमानी गयी। संकरत्व का निवारण और गुरु हत्या जैसे दोष को भी झेलते हुए स्वधर्म और कर्मयोग को प्रतिष्ठित करते हुए प्रथम अध्याय भूमिका स्वरूप उपयोगी है। देशकाल और वस्तु का सम्यक् आकलन इस प्रकरण से स्पष्ट है।

गीता में निहित विषयों को अपनी-अपनी रुचि के अनुसार विभिन्न सिद्धान्तों के रूप में, विद्वानों ने प्रतिष्ठित किया है। गीता की व्याख्याओं में तीन प्रमुख है– आचार्यशंकर का भाष्य, ज्ञानेश्वरी टीका (संत ज्ञानेश्वर) तथा तिलक का गीता रहस्य। एक में ज्ञान को दूसरी में उपासना भक्ति को तीसरी में कर्मयोग को प्रमुखता दी गयी है। इन तीनों के पढ़ने पर भी कुछ नया जोड़ना विद्वानों कास्वभाव है किन्तु सामान्य लोग भी लिखने का मोह नहीं छोड़ पाते हैं। ज्ञान, भक्ति और कर्म के विषय में तीन टीकाएँ मानदण्ड हैं। अन्य सिद्धान्तों पर भी उत्कृष्ट कार्य हुए हैं।

मानव जीवन को सार्थक बनाने के लिए, 'साध्य प्रयास से लौकिक एवं पारलौकिक सिद्धि के लिए गीता में ज्ञान और नीति उपलब्ध हैं। मनुष्यत्व से अधोपतन न हो इसके लिए कुछ आदर्शों को मानना सब के लिए आवश्यक है। गीता में प्रतिपादित धार्मिक एवं नैतिक मान्यताओं तथा जीवन को सार्थक बनाने के लिए विविध आदर्शों को इस संकलन में संक्षेप में प्रस्तुत किया गया है। इसके अतिरिक्त अनेक विषयों पर अनेक विधाओं से भी गीता का अध्ययन संभव है। गीता स्वयं में विविध शास्त्रों का

एक संक्षिप्त संस्करण है। अपनी योजना के अनुसार गीता के एक आयाम को ही संक्षेप में प्रकाशित किया जा रहा है। व्यास और समास पद्धति से शास्त्रों के अध्ययन की परम्परा पुरानी है। सूत्र से भाष्य और आकर ग्रन्थों से सूत्र बनाना पहले से हो रहा है।

इस कृति में गीता के अध्ययन की एक नई विधा है। वर्तमान की आकांक्षाओं को देखते हुए, उपयोगी अंशों का संग्रह तथा उसके भाव का प्रकाशन करना उपयोगी लगता है। इनसे कम समय तथा श्रम से ही गीता के आचरणीय एवं प्रेरक आदर्शों को लोग जान सकेंगे। फलाकांक्षा के बिना स्वधर्म का पालन यज्ञ, दान, तप तथा नियत कर्मों को करना तथा इनका ईश्वरार्पण यही गीता का कर्मयोग है। इन्हीं बातों को गीता में पुनः पुनः अनेक तरह से समझाया गया है। इसी से उपसंहार भी है। इनके सेवन से जीवन को सार्थक बना सकते हैं। इन मान्यताओं को हृदयंगम, दृढ़ करने के लिए ही इस कृति में प्रयास है।

स्वधर्म निर्धारण, कर्तव्याकर्तव्य विवेक, जीवन की साधना, लोकसंग्रह जैसे मुख्य विषयों के ज्ञान के लिए यह पुस्तक उपयोगी है। यह धर्मशास्त्र का भी संक्षिप्त संस्करण है। आशा है कि विद्वज्जन एवं जीवन की साधना करने वाले इसका आदर करेंगे।

रामाश्रय तिवारी

॥ नमो भगवते व्यासदेवाय ॥

गीता में धर्म एवं जीवन के आदर्श

1. प्रस्तावना

धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवाः।
मामकाः पाण्डवाश्चैव किमकुर्वत संजय॥1/1॥

भावार्थ—घृतराष्ट्र पुत्रमोह के कारण धर्म का निर्णय करने में असमर्थ थे। कुरुक्षेत्र की युद्धभूमि पर क्या हो रहा है इसकी जिज्ञासा दो कारणों से है। कुरुक्षेत्र को धर्मक्षेत्र माना जाता है। वहाँ जो निर्णय होगा वह धर्म का प्रमाण होगा, ऐसा समझते हुए तथा अपने पुत्रों के लिए जयाकांक्षी धृतराष्ट्र ने यह प्रश्न किया है।

2. अनुचित व्यवहार का निषेध

आचार्याः पितरः पुत्रास्तथैव च पितामहाः।
मातुलाः श्वशुराः पौत्राः श्यालाः संबंधिनस्तथा॥1/34॥
एतान्न हन्तुमिच्छामि घ्नतोऽपि मधुसूदन ।
अपि त्रैलोक्यराज्यस्य हेतोः किं नु महीकृते ॥1/35॥
तस्मान्नार्हा वयं हन्तुं धार्तराष्ट्रान्स्वबान्धवान् ।
स्वजनं हि कथं हत्वा सुखिनः स्याम माधव ॥1/37॥

भावार्थ—गुरु द्रोणाचार्य, पितामह भीष्म तथा अनेक सगे सम्बन्धी लोगों को इन्द्रपद पाने के लिए भी मारना अनुचित है। इनके वध से सुखी होना संभव नहीं है। अतः अर्जुन का कृष्ण से प्रश्न करना उचित है।

कथं भीष्ममहं सङ्ख्ये द्रोणं च मधुसूदन।
इषुभिः प्रतियोत्स्यामि पूजार्हावरिसूदन॥2/4॥
गुरूनहत्वा हि महानुभावा-
ञ्छ्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके।
हत्वार्थकामांस्तु गुरूनिहैव
भुंजीय भोगान् रुधिरप्रदिग्धान्॥2/5॥

भावार्थ—महानुभाव (धर्मपथ पर रहने वाले) गुरुजनों से युद्ध करने, इनका वध करने की इच्छा करने से अच्छा भिक्षाटन से ही पेट भरना है। अपवित्र पृथ्वी का भोग करना अनिष्ट कारक है।

3. वर्ण संकरत्व का निषेध—

कुलक्षये प्रणश्यन्ति कुलधर्माः सनातनाः।
धर्मे नष्टे कुलं कृत्स्नमधर्मोऽभिभवत्युत॥1/40॥
अधर्माभिभवात्कृष्ण प्रदुष्यन्ति कुलस्त्रियः।
स्त्रीषु दुष्टासु वार्ष्णेय जायते वर्णसंकरः ॥1/41॥
संकरो नरकायैव कुलघ्नानां कुलस्य च ।
पतन्ति पितरो ह्येषां लुप्तपिण्डोदकक्रियाः ॥1/42॥

भावार्थ—युद्ध के कारण कुल कानाश हो जाता है। इससे सनातन कुल धर्म नष्ट हो जाता है। धर्म के नष्ट होने पर कुल को अधर्म व्याप्त कर लेता है। ऐसा होने पर कुलाङ्गनाएँ भी दूषित होती हैं जिससे वर्णसंकर सन्तान पैदा होती है। वर्ण संकर संतान नरक का कारण होती है। उनके कारण पितर लोग पिण्डोदक न पाकर रुष्ट तथा पतित हो जाते हैं।

दोषैरेतैः कुलघ्नानां वर्णसंकरकारकैः।
उत्साद्यन्ते जातिधर्माः कुलधर्माश्च शाश्वताः॥1/43॥
उत्सन्नकुलधर्माणां मनुष्याणां जनार्दन ।
नरकेऽनियतं वासो भवतीत्यनुशुश्रुम ॥1/44॥
अहो बत महत्पापं कर्तुं व्यवसिता वयम् ।
यद्राज्यसुखलोभेन हन्तुं स्वजनमुद्यताः ॥1/45॥

भावार्थ—पूर्वोक्त बातों को ही प्रकारान्तर से, पुनः कहा गया है जिससे विषय स्पष्ट हो सके। वर्णसंकर पैदा होने की स्थिति उत्पन्न करने वाले (युद्ध में कुल का नाश करने वाले) लोगों को ही कुल धर्म और जाति धर्म का नाश करने के लिए उत्तरदायी बताया गया है। इससे स्वयं भी नरक में जाते हैं। अतः राजसुख के लिए वे लोग नरक जाने का मार्ग स्वयं बना लेते हैं।

अर्जुन नरक जाने से भयभीत होकर तथा अनुचित कार्य करके निन्दित होने की बातों से बचकर युद्ध से विरत होना चाहते थे। लोकनिन्दा एवं अधर्म से नरक, यह दो भय के कारण स्पष्ट है। कृष्ण इन्हीं दोनों शंकाओं का निराकरण करने के लिए प्रयास किये हैं। अन्य प्रश्न और उत्तर आनुषंङ्गिक है।

4. असामयिक चिन्ता का निषेध

कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम्।
अनार्य - जुष्टमस्वर्ग्यमकीर्ति - करमर्जुन॥2/2॥
अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे।
गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः॥2/11॥

भावार्थ—असमय में (विषम परिस्थिति तथा सर्वोपरि स्वधर्म के उपस्थित हो जाने पर) सामान्य समय का धर्म भी विपरीत फल देने वाला हो जाता है। ऐसे समय में मोह में पड़ने पर श्रेष्ठ पुरुष तथा लोक द्वारा निन्दा होती है। स्वर्ग के स्वधर्म जन्य, मार्ग का त्याग करने का दोष भी लगता है। जहाँ तक मरने जीने की बात है, उसे पंडित लोग शोक का विषय नहीं मानते हैं। शोक की बात न होने पर भी शोक करना तथाबुद्धिमानी की बड़ी-बड़ी बात करना एक दूसरे के विरोधी हैं। ऐसा शोक करना बुद्धिसम्मत नहीं हे। यह कृष्ण का संक्षिप्त उत्तर है। आगे विस्तार है।

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा-
न्यन्यानि संयाति नवानि देही।।2/22।।
देही नित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत।
तस्मात्सर्वाणि भूतानि न त्वं शोचितुमर्हसि।।2/30।।

भावार्थ—शोक न करना चाहिए, इसे प्रमाणित करने के लिए आगे भी कहा है। शरीर तो जीवात्मा का वस्त्र है। पुराना वस्त्र बदलकर नया वस्त्र पहना जाता है। इसी तरह एक शरीर छोड़कर नई शरीर में जीव जाता है। जीव का वध हो नहीं सकता है क्योंकि वह अमर है। अतः किसी भी प्राणी के लिए शोक करना तर्क संगत नहीं है।

5. स्वधर्म

स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि।
धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते॥2/31॥
अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यं सङ्.ग्रामं न करिष्यसि।
ततः स्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसि॥2/33॥
अकीर्तिं चापि भूतानि कथयिष्यन्ति तेऽव्ययाम।
सम्भावितस्य चाकीर्ति र्मरणादतिरिच्यते॥2/34॥
हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम।
तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः॥2/37॥

भावार्थ—युद्ध करना ही उचित सिद्ध करने के लिए विविध सिद्धान्तों को समझाया गया है। प्रथम क्षत्री के लिए धर्मयुद्ध करना स्वधर्म है। इससे बड़ा दूसरा कर्त्तव्य उसके लिए नहीं है। द्वितीय युद्ध न करने पर स्वधर्म का त्याग तो होगा ही, इससे अपकीर्ति और पापः भी अवश्यंभावी है। बहुमान्य पुरुषों के लिए अपकीर्ति मृत्यु से भी बढ़कर है। इस तरह आत्महत्या का भी पाप युद्ध न करने से होगा। तृतीय

स्वधर्म पालन करते हुए मरने पर स्वर्ग का मार्ग और जीत जाने पर पृथ्वी का भोग मिलना निश्चित है। इन तीनों कारणों से स्वधर्म पालन ही प्रधान कर्त्तव्य है। स्थापित सिद्धान्त होने के कारण कृष्ण ने इन्ही को आधार बना कर युद्ध करने का निर्णय दे दिया।

श्रेयान्स्वधर्मी विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः॥3/35॥

भावार्थ—परधर्म की अपेक्षा गुण रहित दिखायी पड़ने पर भी स्वधर्म ही पालनीय है। अपने कर्म का पालन करते हुए मरना भी परधर्म से अच्छा है। परधर्म तो भयावह होता है।

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥18/46॥
श्रेयान्स्वधमी विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात।
स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम॥18/47॥
सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत।
सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः॥18/48॥

भावार्थ—स्वधर्म पालन से उत्पन्न जो भी फल हो, उसे ईश्वर को समर्पित कर देने पर सिद्धि मिल जाती है। कोई कर्म छोटा या बड़ा नहीं है। स्वधर्म पालन और फल का समर्पण ही सबसे बड़ी साधना है। अपना धर्म अच्छी तरह पालन करने पर, गुण हीनहोने पर भी, दूसरे के अच्छी तरह होने की संभावना वाले धर्म से अधिक श्रेयस्कर है। स्वधर्म पालन करने पर पाप का भय नहीं रहता है। अतः जो सहज कर्म (स्वधर्म) है, वह चाहे जैसा हो करना ही चाहिए। अन्यथा सारे कर्मों में कहीं न कहीं दोष की संभावना रहती है।

6. कर्मयोग

सुख दुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि॥2/38॥

भावार्थ—युद्ध करने से पाप नहीं लगेगा। इस बात को कर्मयोग के समत्वभाव के द्वारा सिद्ध किया गया है। जय-पराजय, लाभ-हानि के द्वन्द्वों में समभाव रखकर युद्ध करने पर यह संभव है। आगे कहा गया है कि समत्व ही योग है।

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि॥2/47॥

भावार्थ—यह श्लोक कर्मयोग को अच्छी तरह से परिभाषित करता है। कर्मयोगी का अधिकारकेवल कर्म करने में है। फल प्राप्ति करने में उसका अधिकार नहीं है।

अतः फल के उद्देश्य से कर्म न करना चाहिए। फल में अधिकार न होने या उसे उद्देश्य न मानने के कारण कर्म त्याग भी न करना चाहिए।यही चार कर्मयोग के सूत्र हैं।

योगस्थः कुरु कर्माणि संग त्यक्त्वा धनंजय।
सिद्धयसिद्धयोः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते।।2/48।।

भावार्थ—कर्मयोग के मार्ग पर आरूढ़ होकर आसक्ति त्यागपूर्वक, सफलता विफलता में समभाव रखते हुए कार्य करना ही योग है। समत्व बुद्धि योग का लक्षण एवं कर्मयोग की परिभाषा का महत्वपूर्ण अंग है।

बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते।
तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम।।2/50।।

भावार्थ—समत्वबुद्धि से युक्त पुरुष पाप-पुण्य दोनों का त्याग कर देता हे। विवेक की यह कुशलता कर्मयोग का लक्षण है। कर्म करने में कुशलता भी कर्मयोग की परिभाषा का महत्वपूर्ण अंग है।

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर।
असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पुरुषः।।3/19।।

भावार्थ—अनासक्त रहने की महिमा योगमार्ग में सिद्ध है। अतः स्वधर्म का पालन आसक्तिरहित होकर करते रहना चाहिए। अनासक्त होकर कर्मयोग के सेवन से परमपद का मार्ग प्रशस्त होता है।

श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाद्धयानं विशिष्यते।
ध्यानात्कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम।।12/12।।

भावार्थ—अनुकूल विषय (ईश्वर) का पुनः पुनः चिन्तन करना अभ्यास है। अभ्यास से सिद्धि मिलती है। इस अभ्यास से भी अधिक फलदायक ईश्वरतत्व को सम्यक जानना है। इस ज्ञान की अपेक्षा जाने हुए उस ईश्वर का ध्यान करना श्रेयस्कर है। यह सब साधनाए फलदायक है किन्तु कर्मयोग की साधना सबसे सरल है। कर्मफल के त्याग से तत्काल स्थाई शान्ति मिलती है।

7. स्थित प्रज्ञता—

प्रजहाति यदा कामान्सर्वान्पार्थ मनोगतान्।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते।।2/55।।
दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः।
वीतरागभयक्रोधःस्थितधीर्मुनिरुच्यते।।2/56।।
यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता।।2/58।।

भावार्थ—सभी कामनाओं को मन से त्याग कर,बुद्धि को आत्मस्वरूप (सच्चिदानन्द) में लगा कर, अपने आप में संतुष्ट रहने वाला व्यक्ति स्थितप्रज्ञ कहा जाता है। वह व्यक्ति दुखों से उद्विग्न नहीं होता है तथा सुखों की कामना न करते हुए राग, भय, क्रोध आदि से रहित हो जाता है। वही मुनि कहा जाता है। जैसे कछुआ अपने पैरों तथा सिर को सिकोड़ कर शरीर के अन्दर कर लेता है, उसी तरह स्थितप्रज्ञ व्यक्ति इन्द्रियों को उनके विषयों से अलग रखते हुए आत्मस्थ रहता है।

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते॥2/59॥

भावार्थ—विषयों से विमुख रहने की बात में और जोड़ा गया है। उतना ही पर्याप्त नहीं है। विषयों के सेवन से विरत रहने पर, उनका स्वाद न लेने पर, विषय समाप्त हो जाते हैं। किन्तु विषयों में रस की वासना बनी रजती है। यह वासना आत्मदर्शन होने पर ही समाप्त होती है। तब पूर्ण स्थितप्रज्ञता होती है।

8. विषय-विकारों से सावधानी

ध्यायतो विषयान्पुंसः संगस्तेषूपजायते।
संगात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते॥2/62॥
क्रोधाद्भवति सम्मोहः सम्मोहात्स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति॥2/63॥

भावार्थ—विषयों कास्मरण करने से उनसे आसक्ति हो जाती है। आसक्ति से कामना (पाने की इच्छा) तथा कामना सिद्ध न होने पर क्रोध होता है। क्रोध से बुद्धि मूढ़ हो जाती है जिससे स्मृति-दोष और भ्रम होता है। ऐसा होने पर विवेक बुद्धि नष्ट हो जाती है। और जीव का पतन होता है।

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः।
महाशनो महापाप्मा विद्धयेनमिह वैरिणम॥3/37॥
आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा।
कामरूपेण कौन्तेय दुष्पूरेणानलेन च॥3/39॥

भावार्थ—रजोगुण से पैदा होने वाला यह काम ही क्रोध का रूप धारण करता है। काम की क्षुधा अनन्त है। इससे बहुत पाप भी होते हैं। अतः इसको ही सबसे बड़ा शत्रु समझना चाहिए। इस प्रबल बैरी से ज्ञानियों की भी बुद्धि ढक जाती है। भोग के द्वारा काम की अग्नि को बुझाना संभव नहीं है।

इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते।
एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम॥3/40॥
तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ।
पाप्मानं प्रजह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम्॥3/41॥

भावार्थ—काम का निवास इन्द्रियों, मन तथा बुद्धि मे होता है। इन्ही के माध्यम से ज्ञान को आच्छादित करते हुए, जीवात्मा को काम मोहित कर लेता है। अतः काम के प्रभाव से बचने के लिए मन और बुद्धि का संयम आवश्यक है। इसी संयम से ज्ञान विज्ञान का नाश करने वाले काम को समाप्त किया जाता है।

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः ॥3/42॥
एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना ।
जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम् ॥3/43॥

भावार्थ—भौतिक शरीर की अपेक्षा इन्द्रियां सूक्ष्म होती हैं। इन्द्रियों की अपेक्षा मन सूक्ष्म होता है। उससे भी अधिक सूक्ष्म बुद्धि होती है। बुद्धि से भी जो परे है वह आत्मा है। इस आत्मा के द्वारा भूतात्मा (इन्द्रियों के साथ शरीर) को संयमित करनेपर काम रूपी शत्रु का नाश किया जाता है।

शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक्शरीरविमोक्षणात्।
कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः॥5/23॥

भावार्थ—साधना जीवन काल मे ही पूरी की जाती है। थोड़ी भी कमी रहने पर पुनर्जन्म होता है। इसी जीवनकाल में जो काम और क्रोध के वेग को रोकने में समर्थ हो जाता है, वही योगी है, वही सुखी रहता है।

9. ज्ञान और कर्म दो मार्ग

लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ।
ज्ञानयोगेन साङ्ख्यानां कमर्योगेन योगिनाम्।।3/3।।

भावार्थ—साधना की उच्चतम स्थिति को निष्ठा कहते हैं। निष्ठा तक पहुँचने के दो ही मार्ग वेद में बताए गए हैं। प्रथम कर्ममार्ग है जिसके अन्तर्गत अनेक प्रकार की क्रियायें हैं। भक्ति, योग, तंत्र, उपासना,वैदिक कर्मकाण्ड आदि सभी इसी में आते है।। दूसरा सांख्य साधना का मार्ग ज्ञान योगियों के लिए है।

यत्साङ्ख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्यौगैरपि गम्यते।
एकं साङ्ख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति।।5/5।।
सन्न्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः।
योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म नचिरेणाधिगच्छति।।5/6।।

भावार्थ—जो परम सिद्धि सांख्यमार्ग से चलकर मिलती है, वही कर्मयोग से भी मिल जाती है। साधना काल में तथा वक्र एवं ऋजु मार्ग होने का अन्तर भले है, किन्तु अन्त में फल एक ही है। सुलभ, सरल होने के कारण कर्मयोग की उपासना करणीय है। इससे चलकर साधक संन्यास की स्थिति में भी पहुँच जाता है। शुद्ध संन्यास का

मार्ग बड़ा कठिन है।

कायेन मनसा बुद्धया केवलैरिन्द्रियैरपि।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति संगं त्यक्त्वात्मशुद्धये।।5/11।।

भावार्थ—कर्मयोग के मार्ग पर चलने से चित्त शुद्धि हो जाती है जिससे ज्ञान मार्ग पर आरूढ़ होने की योग्यता मिल जाती है। अतः कर्मयोगी सत्वशुद्धि के निमित्त शरीर, मन और बुद्धि से कार्य करता है। अनासक्त रहकर वह सुरक्षित रहता है।

10. कर्म की अनिवार्यता

न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः।।3/5।।
कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन् ।
इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते ।।3/6।।

भावार्थ—मनुष्य क्षण भर भी बिना कुछ करते हुए नहीं रह सकता। प्रकृति के वशीभूत होने से अनवरत कायिक, वाचिक या मानसिक कर्म स्वयं होते रहते हैं। ऐसी स्थिति में शरीर से कर्म रोक कर मन से उनका स्मरण करते रहना ठीक नहीं है। ऐसा करने वाला काम के वशीभूत मिथ्याचारी कहा जाता है।

यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन।
कर्मेन्द्रियैः कमर्न्योगमसक्तः स विशिष्यते।।3/7।।
नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः।
शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्धयेदकर्मणः।।3/8।।

भावार्थ—विशिष्टकर्मयोगी वह है जो मन पर संयम रखता है। इसके द्वारा इन्द्रियों का नियमन करता है। वह केवल कर्म इन्द्रियों से कार्य करते हुए असंग रहता है। उसमें मिथ्याचार नहीं रहता है। इसको दृष्टि में रखते हुए कर्मत्याग न करके नियत कर्मों को करते रहना चाहिए। कार्य न करने पर तो शरीर यात्रा भी संभव नहीं है। अतः कर्मत्याग की बात अनुचित है।

11. यज्ञार्थ कर्म

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबंधनः।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसंगः समाचर।।3/9।।

भावार्थ—कर्म में यज्ञ की दृष्टि के साथ, यज्ञार्थ ही कर्म करना चाहिए। यज्ञार्थके अतिरिक्त किया गया कर्म लोक में बन्धन का कारण होता है। यज्ञार्थकर्म भी असंग होकर करना चाहिए।

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्टा पुरोवाचप्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक्॥3/10॥
देवान्भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ ॥3/11॥

भावार्थ—प्रजापति ने सृष्टि के साथ ही यज्ञ का भी विधान किया था। उनका आदेश है कि इसी यज्ञ से इच्छित फल को प्राप्त करते हुए सभी लोग बृद्धि को प्राप्त करें। यज्ञ के द्वारा देवताओं को प्रसन्न करना तथा देवताओं के आशीर्वाद से प्रसन्नता प्राप्त करते हुए सभी परमश्रेय के भागी बनें।

इष्टान्भोगान्हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः।
तैर्दत्तानप्रदायेभ्यो यो भुंक्ते स्तेन एव सः ॥3/12॥
यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात् ॥3/13॥

भावार्थ—प्रकृति के स्थूल तत्वों (पंचभूतों) के माध्यम से किए गए यज्ञ द्वारा देवता प्रसन्न होते हैं। उसी माध्यम से फल (भोग) भी देते हैं। देवता प्रसन्न होकर धन-धान्य वैभव देते हैं। इनके द्वारा दी गयी सम्पदा को उन्हीं को समर्पित करने भोग करना चाहिए। ऐसा न करना देवताओं से चोरी करना है। यज्ञ में बचे हुए अन्न को खानेवाला सभी पापों से मुक्त हो जाता है। जो केवल अपने लिए अन्न पकाता है, वह पाप का भागी होता है।

अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसम्भवः।
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः॥3/14॥
कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्।
तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम्॥3/15॥

भावार्थ—अन्न से प्राणी होते हैं, वृष्टि से अन्न होता है। यज्ञ से वृष्टि होती है, यज्ञ कर्म से होता है तथा कर्म-विधान वेद से प्राप्त है। वेद परमेश्वर से निर्गत हैं। अतः यज्ञ में वह ब्रह्म सदैव प्रतिष्ठित है।

12. लोक संग्रह

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तादनुवर्तते॥3/21॥

भावार्थ—जो आचरण महापुरुष लोग करते हैं, समाज उसी का अनुकरण करता है। उसी के आचरण को प्रमाण माना जाता है। अतः बड़े लोग अपना आचरण आदर्श कोटिका रखने के लिए स्वयं सचेष्ट रहते हैं।

यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥3/23॥
उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम।
संकरस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः॥3/24॥

भावार्थ—यदि बड़े लोग आलस्य छोड़कर कर्म न करते रहे, तो छोटे लोग भी कर्मों का त्याग कर देते हैं। ऐसी अवस्था में समाज को भ्रष्ट करने एवं संकरत्व उत्पन्न करने के लिए बड़े लोग ही उत्तरदायी माने जाते हैं।

सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत।
कुर्याद्विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम्॥3/25॥
न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसङ्गिनाम।
जोषयेत्सर्वकर्माणि विद्वान्युक्तः समाचरन्॥3/26॥

भावार्थ—लोक संग्रह (जनकल्याण) के लिए ही विद्वान्मनुष्य भी अविद्वान की तरह सांसारिक कार्यों को करता रहता है। दोनों में अन्तर यह है कि विद्वान व्यक्ति अज्ञानी की तरह आसक्ति नहीं रखता है। विद्वान व्यक्ति किसी अल्पज्ञ को अपने ज्ञान के प्रदर्शन से, उसके कार्य से विचलित न करे। सभी को स्वधर्म में निरत रहने के लिए प्रेरित करता रहे। यही लोकोपकार है।

13. धर्म की व्यवस्था

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम॥4/7॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे॥4/8॥

भावार्थ—लोक संग्रह के प्रकरण में ही यह दोनों श्लोक भी हैं। जब धर्म की हानि और अधर्म का प्रकोप होता है, उस समय सज्जनों की रक्षा तथा दुर्जनों का संहार करने के लिए स्वयं ईश्वर को व्यवस्था करनी पड़ती है। इस कार्य के लिए परमेश्वर अपनी विभूतियों द्वारा, युगानुकूल रूप में कार्य करते है।

धर्म के उत्थान एवं पतन का यह द्वन्द्व शाश्वत है। दोनों कार्य ईश्वर की व्यवस्था के अन्तर्गत है। पतन के बाद असहाय प्राणियों को उत्थान करने की व्यवस्था करके ईश्वर अपनी महिमा को प्रकट करता रहता है। अन्यथा ईश्वर के अस्तित्व का प्रमाण पाना कठिन है। विपत्ति में ही ईश्वर का ज्ञान होता है जिससे परमश्रेय तक का मार्ग मिलता है।

14. वर्णव्यवस्था

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।
तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम्॥4/13॥

भावार्थ—ईश्वर का परम स्वरूप अकर्ता का ही है। मायिक रूप से वही सृष्टि का कर्ता है। उसी ईश्वर द्वारा गुण और कर्म के अनुसार चार वर्णों की रचना की गयी है।

ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परन्तप।
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः॥18/41॥

भावार्थ—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र यह चार वर्ण हैं। इन चारों का कर्म-विभाजन स्वाभाविक गुणों के आधार पर किया गया है।

शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम्॥18/42॥
शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम्।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम्॥18/43॥
कृषिगौरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम्।
परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम्॥18/44॥

भावार्थ—ब्राह्मण के धर्म मन एवं इन्द्रियों का शम-दम, तपस्या, क्षमा, सरलता, ज्ञान-विज्ञान में संलग्नता तथा वेद-शास्त्रों में श्रद्धा रखनाहै। यह कर्म उसके द्वारा स्वाभाविक रूप से होते हैं। इसी तरह क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र भी स्वभाव से ही अपने-अपने कार्य करते हैं। क्षत्रिय के लिए शौर्य, तेज, धैर्य, नीति-ज्ञान, युद्ध में निर्भय रहना, दान और प्रभुता की भावनास्वाभाविक है। कृषि, गौपालन, वाणिज्य, वैश्य के प्रमुख कार्य हैं तथा तीनों वर्णों की सेवा शूद्र का स्वाभाविक धर्म है।

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः।
स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विन्दति तच्छृणु॥18/45॥
यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥18/46॥

भावार्थ—कर्म-विभाजन स्वभाव के अनुसार हुआ है। स्वभाव के अनुसार जीवन-यापन से सुख शान्ति एवं सिद्धि मिलती है। स्वभाव के विपरीत चलने पर अनेक विघ्न आते हैं। अपने लिए निर्धारित कर्मों को सविधि, कुशलता पूर्वक करके और उसे जगत के स्रष्टा परमेश्वर को समर्पित करके चारों वर्णों के लोग जीवन को सार्थक बना लेते हैं। कुशलतापूर्वक करके ईश्वरार्पण करने पर सभी कर्मों का फल एक जैसा होता है। कोई कर्म छोटा या बड़ा नहीं होता है।

15.कर्म-अकर्म, कर्तव्य-अकर्तव्य का निर्णय

कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः।
अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः॥4/17॥

कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः ।
स बुद्धिमान्मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत ॥4/18॥

भावार्थ—कर्म की गति गूढ़ है। इसे जानने के लिए कर्म, अकर्म, विकर्म तीन तरह के कर्मों को समझना चाहिए। विकर्म का निषेध शास्त्रों ने किया है। वे पाप के हेतु होते हैं। कर्म और अकर्म का भेद समझना कठिन है। समस्त कर्मों को करने वाला योगी कर्म में अकर्म और अकर्म में कर्म का रहस्य जानता है।

त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं नित्यतृप्तो निराश्रयः।
कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किंचित्करोति सः॥4/20॥

भावार्थ—शरीर से कुछ न करते हुए भी मानसिक संग मात्र से कर्म होता रहता है। यह अकर्म नहीं है। फलों में आसक्ति छोड़कर, नित्य तृप्त और भगवदाश्रित रहने पर कर्मों को करते रहने पर भी अकर्ता कहा जाता हे। वास्तव में वैराग्य ही अकर्म का लक्षण है।

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम॥16/23॥
तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि॥16/24॥

भावार्थ—जो व्यक्ति शास्त्रों को न जानकर या उनके आदेशों की अवहेलना करते हुए मानमानी आचरण करता है, वह सिद्धि, सुख और सदगति नहीं प्राप्त कर सकता है। कर्तव्य और अकर्तव्य का ज्ञान करने के लिए शास्त्र ही प्रमाण है। शास्त्रों द्वारा विहित विधान को मानकर ही कर्म करना फलदायक होता है।

16. विविध यज्ञ

गतसङ्गस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः।
यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते॥4/23॥

भावार्थ—मुख्य यज्ञ के विधान में अग्नि, हवि, होता, मन्त्र, देवता आदि प्रसिद्ध है। देवताओं के लिए अर्थत्याग तथा आहुति यज्ञ है। इसी यज्ञ के आधार पर ऊहन द्वारा अनेक तरह के यज्ञों का विधान किया गया है। इन यज्ञों में से किसी का सेवन, संग रहित होकर करने पर, सभी तरह के कर्मबन्धन नष्ट हो जाते है। सर्वथा योगयुक्त एवं ज्ञाननिष्ठा के साथ यज्ञार्थ कर्म करने को श्रेयष्कर बताया गया है।

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना॥4/24॥
दैवमेवापरे यज्ञं योगिनः पर्युपासते।
ब्रह्माग्नावपरे यज्ञं यज्ञेनैवोपजुह्वति॥4/25॥

भावार्थ–ब्रह्म यज्ञ में यज्ञ के सभी अंगों को ब्रह्म की भावना द्वारा एकत्रित करके आहुति दी जाती है। उसका फल भी ब्रह्म ही होता है। इसी तरह दैव यज्ञ में देवता की उपासना से ही यज्ञ विधान पूरा होता है। ब्रह्माग्नि में यज्ञ के द्वारा ही यज्ञ की आहुति देना ही तीसरी तरह का यज्ञ है।

श्रोत्रादीनीन्द्रियाण्यन्ये संयमाग्निषु जुह्वति।
शब्दादीन्विषयानन्य इन्द्रियाग्निषु जुह्वति॥4/26॥
सर्वाणीन्द्रियकर्माणि प्राणकर्माणि चापरे।
आत्मसंयमयोगाग्नौ जुह्वति ज्ञानदीपिते॥4/27॥

भावार्थ–सभी ज्ञान इन्द्रियों की आहुति संयम की अग्नि में करना,इन्द्रिय-संयम विषय का यज्ञ है। इन्द्रियों के विषयों की आहुति उन्हीं के अधिष्ठातृ देवतारूपी अग्नि में करना इन्द्रियों और उनके विषयों से सम्बन्धी यज्ञ है। यह अन्तःकरण से साध्य है। इन्द्रियों और प्राणों के सभी कर्मों की आहुति आत्मसंयम (भगवन्निष्ठा) की अग्नि में करना आत्म संयम सम्बन्धी यज्ञ है।

द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथापरे।
स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशितव्रताः॥4/28॥
अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथापरे।
प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणाः॥4/29॥
अपरे नियताहाराः प्राणान्प्राणेषु जुह्वति।
सर्वेऽप्येते यज्ञविदो यज्ञक्षपितकल्मषाः॥4/30॥

भावार्थ–धन, तप, योग, स्वाध्याय, ज्ञान, व्रत, प्राणायाम आदि द्वारा साध्य यज्ञ होते हैं। आहार-विहार के नियमों में संयम आदि अनेक प्रकार के यज्ञों से पापों को क्षीण करना भी यज्ञ है। किसी भी तरह के यज्ञ को करके निष्पाय बना जा सकता है।

एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे।
कर्मजान्विद्धि तान्सर्वानेवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे॥4/32॥

भावार्थ–इस प्रकार अनेक तरह के यज्ञों का विधान विधाता ने कियाहै। यह सभी यज्ञ कर्मसाध्य है।

17. ज्ञानयज्ञ का महत्व

श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परन्तप।
सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते॥4/33॥

भावार्थ–द्रव्य के द्वारा साध्य यज्ञों को करने से ज्ञाननिष्ठा में परिपक्वता होती है। ज्ञान से साधना यज्ञ की पराकाष्ठा है। ज्ञानयज्ञ की पूर्णता होने पर सभी कार्य

समाप्त हो जाते हैं। उसी से सभी कर्मों की पूर्णता होती है।

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन ।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा ॥4/37॥
न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते ।
तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति ॥4/38॥

भावार्थ—प्रज्वलित अग्नि जैसे लकड़ी को जलाती है उसी तरह ज्ञानाग्नि, पाप-पुण्य सभी तरह के, कर्मों को समाप्त कर देती है। ज्ञान की तरह पवित्र करने वाला कोई तत्व नहीं है। वह ज्ञान योग मार्ग पर चलने वाला व्यक्ति, यथा समय, प्राप्त कर लेता है। योग की सिद्धि होने पर ज्ञान का मार्ग सुलभ हो जाता है।

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।
ज्ञानं लब्धवा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति॥4/39॥
अज्ञश्चश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति।
नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः॥4/40॥

भावार्थ—इन्द्रियों का संयम करने वाला, स्वधर्म पालन में तत्पर तथा ज्ञान-प्राप्ति के लिए श्रद्धालु व्यक्ति ज्ञान को अवश्य प्राप्त कर लेता है। ज्ञान प्राप्ति के अनन्तर, वह सद्यः परमशान्ति प्राप्त करता है। इसके विपरीत बुद्धिहीन, श्रद्धारहित तथा संशयग्रस्त व्यकित अधोगामी होता है। सबसे बुरी स्थिति संशय करने वाले की होती है। उसको इस लोक में तथा परलोक में कहीं भी सुख नहीं मिलता है।

18.ध्यानयोग और मनोनिग्रह

आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते।
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते॥6/3॥

भावार्थ—कर्म योग की साधना आरंभ करने वाले के लिए निष्काम कर्म करना ही कर्तव्य है। वही प्रमुख सहायक है।

निष्कामयोग पर आह्वढ़ हो जाने पर उस साधक को शम (अन्तः करण की शान्ति) आगे की साधना में सहायक है। शम का साधन आगे बताया गया है। कर्मयोगी, ध्यानयोग के माध्यम से ज्ञानयोग में प्रवेश करता है।

तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः।
उपविश्यासने युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये॥6/12॥

भावार्थ—पवित्र स्थान में आसन पर बैङ्ककर मन को एकाग्र करके, चित्तवृत्तियों को शान्त करके, अन्तःकरण की शुद्धि के लिए एक तत्व का ध्यान करना चाहिए। परम सत्ता से आत्मतत्व का ऐक्य स्थापित करना ही ध्यान है। बाद में इसी पर निदिध्यस्त होना सिद्धि है।

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा।।6/17।।

भावार्थ—आहार-विहार, सोना-जगानातथा अन्य कर्मों के करने में अतिरेक न हो। यथायोग्य यह सब करते रहने पर योग की साधना दुखों का नाश कर देती है।

यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत।।6/26।।
युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी विगतकल्मषः।
सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते।।6/28।।

भावार्थ—ध्यान के समय मन के चलायमान होने पर, बार-बार प्रयास करके, उसे अपने चिन्तनीय बिन्दु पर ही लगाते रहना चाहिए। इस तरह ध्यान योग की साधना करते हुए साधक निष्पाप होकर ब्रह्म-साक्षात्कार (आत्मज्ञान) के द्वारा अनन्त सुख को प्राप्त कर लेता है।

चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम।।6/34।।
असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते।।6/35।।

भावार्थ—ध्यान योग की साधना में मन की चंचलता सबसे बड़ी बाधा है। मन इन्द्रियों को मथने वाला,बड़ा शक्तिशाली होता है। वायु को रोकने की तरह मन को रोकना भी कठिन है। यह समस्या सभी महसूस करते हैं। किन्तु मन का रोकना संभव है। अभ्यास और वैराग्य के द्वारा मन नियंत्रित होता है। अभीष्ट विषय का बार-बार चिन्तन करना, अभ्यास है तथा विपरीत विषय का मनसा-वाचा-कर्मणा त्याग करना वैराग्य है। इन दोनों का सतत सेवन करने से मन वश में हो जाता है। अभ्यास वैराग्याभ्यां तन्निरोधः पातंजलि योग सूत्र में भी बताया है।

19. परापरा प्रकृति विवेचन

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहङ्कार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा।।7/14।।
अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्।।7/15।।
एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय।
अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा।।7/6।।

भावार्थ—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि, अहंकार यह आङ्ग ईश्वर की अपरा प्रकृति है। इनसे भिन्न जो जीव रूपा प्रकृति हैवह चैतन्य युक्त है।

उसी चैतन्य से जगत संचालित दिखायी पड़ता है। इन दोनों प्रकृतियों का मूल संचालक ईश्वर है। अर्थात् प्रकृति से जगत व्यापार होता है और प्रकृति ईश्वर से उत्पन्न और उसी में लीन होने वाली है।

मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति धनञ्जय।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव।। 7/7।।
बलं बलवतां चाहं कामरागविवर्जितम।
धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ।।7/11।।

भावार्थ–स्थूल या सूक्ष्म जितने पदार्थ हैं, सब ईश्वर में ही स्थित है। मणियों की माला में सूत्र की तरह ईश्वर सर्वत्र व्याप्त है। शक्तिमान की शक्ति ईश्वर ही है। धर्मानुकूल, आसक्ति रहित काम भी ईश्वर है जो उपास्य है।

20. उपासक भेद

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ।।7/16।।

भावार्थ–सत्कर्मकरने वाले मनुष्य चार तरह के होते हैं। वे अपनी कामनाऔर योग्यता के अनुसार ईश्वर की उपासना करते हैं। आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी और ज्ञानी, यह उपासकों के चार प्रकार हैं। संकट से मुक्ति के लिए आर्त, धन सम्पदा की प्राप्ति के लिए अथार्थी, ईश्वर का स्वरूप जानने का इच्छुक जिज्ञासु तथा ज्ञाननिष्ठा वाला उपासक ज्ञानी कहा जाता है।

तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः।।7/17।।
उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्।
आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम ।।7/18।।

भावार्थ–इन चारों तरह के उपासकों में ज्ञानी का स्थान विशिष्ट है। उसे ईश्वर ही प्रिय है तथा ईश्वर उससे प्रेम करता है। अर्थात् वह आत्मरति हो जाता है। कल्याण के मार्ग पर गतिचारों तरह के उपासकों की होती है। ज्ञानी की विशेषता है कि वह ईश्वरत्व की अनुभूति करने के कारण परमपद को प्राप्त करके, ईश्वर ही हो जाता है।

21. श्रद्धा का महत्व

ये यथा माँ प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः।।4/11।।

भावार्थ–ईश्वर की उपासना जिस भावना से की जाती है, उपासक के लिए वह उसी तरह का हो जाता है। सभी मनुष्यों के उपास्य ईश्वर वास्तव में एक ही है।

श्रद्धा के भेद से भेद दिखायी पड़ता है।

यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति।
तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम॥7/21॥
स तया श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमीहते।
लभते च ततः कामान्मयैव विहितान्हि तान्॥7/22॥
अन्तवत्तु फलं तेषां तद्भवत्यल्पमेधसाम्।
देवान्देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि॥7/23॥

भावार्थ—जो जिस रूप में भक्ति करता है, उसकी श्रद्धा उसी रूप में दृढ़ हो जाती है। ईश्वर ही ऐसा कर देता है। उसी उपासना के अनुसार वह उपासक फल प्राप्त करता है। फल भी ईश्वरप्रदत्त ही होता है। देवता, प्रेत, पितर, गन्धर्व, जिसकी उपासना से फल मिलता है, वह फल उसी उपास्य के सामर्थ्य के अनुसार बड़ा या छोटा होता है। हीन कोटि के उपासकों की सिद्धि नाशवान होती है। अस्थायी वैभव ही उनकी उपलब्धि है। परमेश्वर का उपासक परमपद को प्राप्त करता है जो स्थाई होता है।

येऽप्यन्यदेवता भक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः।
तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम्॥9/23॥
यान्ति देवव्रता देवान्पितृन्यान्ति पितृव्रताः।
भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपि माम॥9/25॥

भावार्थ—अपनी श्रद्धा के अनुसार किसी देवता की पूजा करने वाला भी ईश्वर की ही पूजा करता है, श्रद्धा के हीनकोटि की होने पर अविधि पूजा होती है। देवता, पितर, भूत-प्रेत किसी रूप में पूजा करने वाले उसी उपास्य को प्राप्त करते हैं, वैसे ही हो जाते हैं। ईश्वर में श्रद्धा रखने पर ईश्वर मिलता है।

22. ईश्वर की विभूति

आदित्यानामहं विष्णुर्ज्योतिषां रविरंशुमान।
मरीचिर्मरुतामास्मि नक्षत्राणामहं शशिः॥10/21॥
रुद्राणां शङ्करश्चास्मि वित्तेशो यक्षरक्षसाम।
वसूनां पावकश्चास्मि मेरुः शिखरिणाम्यहम्॥10/23॥

भावार्थ—समस्त सृष्टि में ईश्वर व्याप्त है किन्तु अपनी विशिष्ट विभूति कहीं-कहीं प्रकट करता है।

बारह आदित्यों में विष्णु, प्रकाश करने वालों में सहस्रार्चि सूर्य,उनचास वायु में मरीचि (तेजोमय), नक्षत्रों में चन्द्रमा, रुद्रों में शंकर, यक्ष-राक्षसों में कुवेर, 'आठ वसुओं में अग्नि और पर्वतों में सुभेरु' यह सब ईश्वर की विभूति है।

प्रह्लादश्चास्मि दैत्यानां कालः कलयतामहम।
मृगाणां च मृगेन्द्रोऽहं वैनतेयश्च पक्षिणाम॥10/30॥
पवनः पवतामस्मि रामः शस्त्रभृतामहम।
झषाणां मकरश्चास्मि स्त्रोतसामस्मि जाह्नवी ॥10/31॥

भावार्थ—दैत्यों में प्रहलाद,गणकों में काल, पशुओं में पराक्रमी सिंह, पक्षियों में गरुण, पवित्र करने वाले तत्वों में वायु, शस्त्रधारियों में राम या परशुराम, जलचरों में मगर, नदियों में गंगा यह सब ईश्वर की विभूति है।

वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मि पाण्डवानां धनञ्जयः।
मुनीनामप्यहं व्यासः कवीनामुशना कविः॥10/37॥
दण्डो दमयतामस्मि नीतिरस्मि जिगीषताम।
मौनं चैवास्मि गुह्यानां ज्ञानं ज्ञानवतामहम ॥10/38॥

भावार्थ—वृष्णि वंशी यादवों में कृष्ण, पाण्डवों में अर्जुन, मुनियों में व्यास, कवियों में शुक्राचार्य ईश्वर की विभूति हैं। दमन करने हेतु दण्ड, विजय हेतु नीति, गोपनीयता हेतु मौन एवं ज्ञानियों में ज्ञान ईश्वर की सूक्ष्म विभूतियाँ हैं।

यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसम्भवम॥10/41॥

भावार्थ—चराचर, जड़-चेतन अनेक रूपों में जो भी विशिष्ट है, वह ईश्वर की विभूति है। राम, कृष्ण, ब्रह्मा, विष्णु, शंकर आदि को ईश्वर की विभूति कहकर ईश्वर की महिमा का बोध कराया गया है।

23. क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ एवं पुरुषोत्तम विचार

इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्याभिधीयते।
एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः॥13/5॥

भावार्थ—यह शरीर क्षेत्र कहा जाता है तथा इसको जानने वाला क्षेत्रज्ञ है। यह व्यष्टि और समष्टि, दोनो तरह से समझने योग्य है। शरीर रूपी क्षेत्र का क्षेत्रज्ञ जीव है, प्रकृति तथा सृष्टि रूपी क्षेत्र का क्षेत्रज्ञ ईश्वर है।

ज्ञेयं यत्तत्वप्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वामृतमश्नुते।
अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते॥13/12॥
सर्वतः पाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम् ।
सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति॥13/13॥

भावार्थ—क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ के ज्ञान द्वारा ज्ञातव्य तत्व ईश्वर है। उसे जान कर जीव को अमरत्व मिल जाता है। वह परमात्मा आदि रहित परब्रह्म, सत्-असत् से परे है। वास्तव में सदसद् दोनो वही है। उसे हाथ, पैर, आंख, मुख, कान आदि इन्द्रिया सर्वत्र है।

सब को व्याप्त करके केवल वही सत्तावान है। इस तरह ईश्वर के विविध रूप सामान्य बुद्धि से परे है।

यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते।
सर्वत्रावस्थितो देहे तथात्मा नोपलिप्यते॥13/33॥

भावार्थ—जीवरूप में जो अनेक संत्रज्ञ विरवार्द पड़ रहे है उन सब का प्रकाशक एक ही क्षेत्रत्र (ईश्वर) है। जीव और ईश्वर में अभेद समाझना ही ज्ञान है।

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च ।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते॥15.16॥
उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः॥15.17॥
यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः॥15.18॥

भावार्थ—क्षर और अक्षर नाम से दो पुरुष जाने जाते है। समस्त भौतिक पदार्थ क्षर है तथा कटस्थ जीव अक्षर है। परमात्मा के रूप में तीसरा उत्तम पुरुष है। वही अकेले तीनों लोको को व्याप्त करेक स्थित है। क्षर और अक्षर दोनो से परे होने के कारण उसको पुरुषोत्तम, परमात्मा कहते है।

समीक्षा—अध्याय सात में परा-अपरा प्रकृति तथा दोनो का स्वामी ईश्वर है। वही अध्याय तेरह में क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ तथा ज्ञेय के रूप में है। अध्याय पन्द्रह में क्षर-अक्षर और पुरुषोंत्तम नाम से भी उसी प्रकृति, जीव और ईश्वर का निरूपण है। शब्दों में भेद है, अर्थ एक ही है। समन्वय से तीनों अध्यायों में सामंजस्य समझना चाहिए।

24. प्रकृति के त्रिगुण

सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसम्भवाः।
निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम्॥14/5॥

भावार्थ—प्रकृति के तीन गुणों से यह सृष्टि (संसृति) बंधी है। यह तीन गुण सत, रज और तम कहे जाते हैं।

तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात्प्रकाशकमनामयम।
सुखसङ्गेन बध्नाति ज्ञानसङ्गेन चानघ॥14/6॥
रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णासङ्गसमुद्भवम।
तन्निबध्नाति कौन्तेय कर्मसङ्गेन देहिनम्॥14/7॥
तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम।
प्रमादालस्यनिद्राभिस्तान्निबध्नाति भारत॥14/8॥

सत्त्वं सुखे सञ्जयति रजः कर्मणि भारत।
ज्ञानमावृत्य तु तमः प्रमादे सञ्जयत्युत॥14/9॥

भावार्थ—सत्व गुण निर्मल, प्रकाशक, निर्दोष होते हुए भी सुख और ज्ञान में आसक्ति पैदा करके बन्धनकारी होता है। रजोगुण आसक्ति और कामना पैदा करता है जिससे कर्मबन्धन होता है। तमोगुण अज्ञान और मोह पैदा करता है, जिससे प्रमाद, आलस्य, निद्रा आदि दुर्गुणों के कारण बन्धन होता है। इस प्रकार सत्व, रज, तम तीनों गुण, क्रमशः सुख, कर्म और अज्ञान के जनक हैं।

यदा सत्त्वे प्रवृद्धे तु प्रलयं याति देहभृत।
तदोत्तमविदां लोकानमलान्प्रतिपद्यते॥14/14॥
रजसि प्रलयं गत्वा कर्मसङ्गिषु जायते।
तथा प्रलीनस्तमसि मूढयोनिषु जायते॥14/15॥

भावार्थ—जिस पुण्यायु के समय सत्व गुण में वृद्धि होती रहती है, उस समय मृत्यु होने पर उत्तम लोकों की प्राप्ति होती है। रजोगुण की वृद्धि के समय मरने पर कर्मों में आसक्ति वाली योनि मिलती है। तमोगुण की वृद्धि के समय, पापायु में, मरने पर पशु-पक्षी आदि की मूढ़ योनि प्राप्त होती है।

कर्मणः सुकृतस्याहुः सात्त्विकं निर्मलं फलम।
रजसस्तु फलं दुःखमज्ञानं तमसः फलम॥14/16॥
सत्त्वात्सञ्जायते ज्ञानं रजसो लोभ एव च।
प्रमादमोहौ तमसो भवतोऽज्ञानमेव च॥14/17॥
ऊर्ध्व गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः।
जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः॥14/18॥

भावार्थ—अच्छा कर्म सात्विकता, निर्मलता पैदा करता है। रजोगुणी कर्म का फल दुख और तामसी कर्म का फल अज्ञान है। सत्वगुण से ज्ञान, रजोगुण से लोभ और तमोगुण से मोह व प्रमाद पैदा होते हैं। सात्विक लोग उच्चतर लोकों को राजसी लोग मनुष्य लोक को और तामसी लोग लोग अधोगति को प्राप्त होते हैं।

मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः।
सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः सा उच्यते॥14/25॥

भावार्थ—गुणों का प्रभाव देखते हुए उनसे मुक्त होना ही श्रेयस्कर है। इसके लिए गुणातीत होने की साधना करनी पड़ती है। संक्षेप में गुणातीत उसको कहा जाता है जो मान-अपमान, शत्रु-मित्र आदि द्वन्द्वों में समान रहता है। सभी कर्मों के फल का त्यागी, अकाम, कर्तापन के अभिमान से रहित गुणातीत होता है। संन्यासी, मुनि, योगी,

स्थित प्रज्ञ आदि के आदर्श गुणातीत में समझना चाहिए।

25. दैवी तथा आसुरी सम्पत्ति

अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम्॥16/1॥
अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम्।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम्॥ 16/2॥
तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहोनातिमानिता।
भवन्ति सम्पदं दैवीमभिजातस्य भारत॥16/3॥

भावार्थ—निर्भय तथा शुद्ध अन्तःकरण रहना, ज्ञान निष्ठा, दान, दम, यज्ञ, स्वाध्याय, सरलता, अहिंसा, सत्य, अक्रोध, त्याग, शान्ति, निन्दा न करना, प्राणियों पर दया, निर्लोभत्व, मृदुता, लज्जा, शान्त रहना, तेज, क्षमा, धैर्य, शौचाचार, अद्रोह, निरभिमान रहना जैसे गुण दैवी सम्पत्ति कहे जाते हैं।

द्वौ भूतसर्गौ लोकऽस्मिन्दैव आसुर एव च।
दैवो विस्तरशः प्रोक्त आसुरं पार्थ में श्रृणु॥16/6॥

भावार्थ—इस लोक में दैवी तथा आसुरी दो प्रकृतियों के लोग होते हैं। ऊपर दैवी सम्पत्ति को विस्तार से बताया गया है। नीचे आसुरी प्रकृति को भी बता दिया गया है। प्रकृति ही प्राणी की मूल सम्पत्ति कही जाती है। मूलधन से ही वृद्धि होती है।

दम्भो दर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च।
अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ सम्पदमासुरीम॥16/4॥
प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च जना न विदुरासुराः।
न शौचं नापि चाचारो न सत्यं तेषु विद्यते॥16/7॥

भावार्थ—अपनी सम्पत्ति तथा शक्ति पर अहंकार, मानातिरेक, क्रोध,कठोर वाणी तथा अज्ञान यह सब आसुरी प्रकृति के लक्षण हैं। ऐसे लोग प्रवृत्ति-निवृत्ति (संग्रहत्याग) को ठीक से नहीं समझ पाते हैं तथा अपवित्र और आचारहीन होते हैं। अनेक दुष्ट विचार उनमें स्वाभाविक होते हैं।

आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि।
मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम॥16/20॥

भावार्थ—आसुरी स्वभाव के लोग, मूढ़ होने के कारण, जन्म-जन्मान्तर तक इसी तरह की प्रवृत्ति में लगे रहते हैं। वे क्रमशः अधोगति को ही प्राप्त करते रहते हैं।

अशास्त्रविहितं घोरं तप्यन्ते ये तपो जनाः।
दम्भाहङ्कारसंयुक्ताः कामरागबलान्विताः॥17/5॥

कर्षयन्तः शरीरस्थं भूतग्राममचेतसः।
मां चैवान्तःशरीरस्थं तान्विद्ध्यासुरनिश्चयान॥17/6॥

भावार्थ—कामना और आसक्ति तथा दम्भ एवं अहंकार के कारण, मनमानी ढंग से, घोर तपस्या करने वाले और शरीरस्थ जीवात्मा को भी कष्ट देने वाले लोग आसुरी प्रकृति के होते हैं।

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मन्ः।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत॥16/21॥

भावार्थ—ऊपर आसुरी प्रकृति का वर्णन किया गया। उनके भी उद्धार का मार्ग यहाँ बताया गया है। काम, क्रोध और लोभ यह तीन नरक पहुँचाने वाले मूलभूत अवगुण हैं। इन तीनों से बचने पर कल्याण संभव है।

26. त्रिविध श्रद्धा, यज्ञ, दान, तप आदि

त्रिविधा भवति श्रद्धा देहिनां सा स्वभावजा।
सात्त्विकी राजसी चैव तामसी चेति तां श्रृणु॥17/2॥
सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत।
श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः॥17/3॥

भावार्थ—स्वभाव के अनुसार ही श्रद्धा प्राणियों में होती है। यह श्रद्धा सात्विक, राजस, तामस तीन प्रकार की होती है। सत्व के अनुसार ही श्रद्धा स्वयं दृढ़ हो जाती है अतः मनुष्य को श्रद्धामय कहा गया है जिसकी जैसी श्रद्धा दिखायी पड़ती है, उसका स्वभाव (सत्व) भी वैसा ही जाना जाता है।

यजन्ते सात्त्विका देवान्यक्षरक्षांसि राजसाः।
प्रेतान्भूतगणांश्चान्ये जयन्ते तामसा जनाः॥17/4॥

भावार्थ—सात्विक श्रद्धा के लोग देवताओं की, राजस श्रद्धा के लोग यक्ष। राक्षसों तथा तामसी श्रद्धा वाले भूत-प्रेत की उपासना करते हैं। उपास्य के द्वारा मनुष्य के स्वभाव तथा श्रद्धा का आकलन हो जाता है।

आयुः सत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धनाः।
रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्त्विकप्रियाः॥17/8॥
कट्वम्लूलवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः।
आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः॥17/9॥
यातयामं गतरसं पूति पर्युषितं च यत।
उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम॥17/10॥

भावार्थ—स्वभाव के अनुसार ही आहार भी तीन तरह का होता है। आयु, बुद्धि, बल, स्वास्थ्य, सुख, प्रीति को बढ़ाने वाले रसदार, चिकने, स्थिर रहने वाले

तथा प्रसन्नता उत्पन्न करने वाले भोज्य सात्विक लोगों के होते हैं। कटु, खट्टा, बहुत नमकीन, बहुत गरम, तीखे, सूखा, जलाने वाला एवं दुख चिन्ता तथा रोग पैदा करने वाला भोज्य राजस लोगों का होता है। पुराना अधपका, रसहीन, दुर्गन्धियुक्त, जूठा, अशुद्ध भोजन तामस लोगों का होता है। उनके भोजन का प्रभाव नीद, अज्ञान और प्रमाद देने वाला होता है।

अफलाकाङ्क्षिभिर्यज्ञो विधिदृष्टो य इज्यते।
यष्टव्यमेवेति मनः समाधाय स सात्त्विकः॥17/11॥
अभिसन्धाय तु फलं दम्भार्थमपि चैव यत।
इज्यते भरतश्रेष्ठ तं यज्ञं विद्धि राजसम॥17/12॥
विधिहीनमसृष्टान्नं मन्त्रहीनमदक्षिणम।
श्रद्धाविरहितं यज्ञं तामसं परिचक्षते॥17/13॥

भावार्थ—यज्ञ तीन प्रकार के बताए गए हैं। स्वधर्म समझकर, कामना रहित रहकर, सविधि किया गया यज्ञ सात्विक होता है। फल की इच्छा से या अहंकार पूर्वक किया गया यज्ञ राजस होता है। विधिहीन, अन्नदानं से रहित, मंत्र और दक्षिणा से हीन, श्रद्धा रहित यज्ञ तामस कहा जाता है।

देवाद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम्।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते॥17/14॥
अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते॥17/15॥
मनः प्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः।
भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते॥17/16॥

भावार्थ—प्रसंगतः तीन तरह की तपस्या का निरूपण किया गया है। देवता, ब्राह्मण, गुरु तथा ज्ञानी पुरुषों की पूजा करना, शौचाचार, सरलता, ब्रह्मचर्य का पालन, अहिंसा—यह सब शरीरसम्बन्धी तप है। उद्वेग (कटुता) न उत्पन्न करने वाली, सत्य प्रिय और हितकारी वाणी तथा स्वाध्याय करना— यह सब वाङ्मय तप है। मन की प्रसन्नता, शान्त रहना मौन, आत्मसंयम, भावनाओं की शुद्धि— यह सब मानसिक तप है।

श्रद्धया परया तप्तं तपस्तत्त्रिविधं नरैः।
अफलाकाङ्क्षिभिर्युक्तैः सात्त्विकं परिचक्षते॥17/17॥
सत्कारमानपूजार्थं तपो दम्भेन चैव यत।
क्रियते तदिह प्रोक्तं राजसं चलमध्रुवम॥17/18॥
मूढग्राहेणात्मनो यत्पीडया क्रियते तपः।
परस्योत्सादनार्थं वा तत्तामसमुदाहृतम॥17/19॥

भावार्थ—ऊपर तीन तरह के तप बताए गए हैं। इन तीनों के कर्त्ता, श्रद्धा के अनुसार, तीन तरह के होते हैं। श्रद्धा के साथ, फल की इच्छा छोड़कर किया गया तप सात्विक होता है। सत्कार, सम्मान, पूजा के लिए या अहंकारवश किया गया तप राजस होता है। हठ्ठपूर्वक, शरीर को पीड़ित करते हुए या दूसरे के अहित के लिए किया गया तप तामस कहा जाता है।

दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे।
देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्त्विकं स्मृतम॥17/20॥
यत्तु प्रत्युपकारार्थं फलमुद्दिश्य वा पुनः।
दीयते च परिक्लिष्टं तद्दानं राजसं स्मृतम॥17/21॥
अदेशकाले यद्दानमपात्रेभ्यश्च दीयते।
असत्कृतमवज्ञातं तत्तामसमुदाहृतम॥17/22॥

भावार्थ— दान देना चाहिए इस कर्त्तव्यबोध से, देश, काल, पात्र का ध्यान देते हुए, प्रत्युपकार की आशा न रखकर दिया गया दान सात्विक होता है। जो प्रत्युपकार के लिए या किसी फल की आशा से, क्लेश पूर्वक दान दिया जाता है, वह राजस है। देश, काल, पात्र का ध्यान न रखकर तिरस्कार या असत्कार पूर्वक दिया गया दान तामस होता है।

अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत।
असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो इह॥17/28॥

भावार्थ—बिना श्रद्धा के किए गए दान, तप और समस्त शुभ कर्म असत् कहे जाते हैं। इस लोक या परलोक कहीं भी उनका फल नहीं मिलता है।

27 त्याग का स्वरूप

काम्यानां कर्मणा न्यासं सन्न्यासं कवयो विदुः।
सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः॥18/2॥
त्याज्यं दोषवदित्येके कर्म प्राहुर्मनीषिणः।
यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यमिति चापरे॥18/3॥

भावार्थ—विद्वानों के मत से काम्य कर्मों का त्याग करना ही संन्यास है। अन्य तरह के विद्वानों का मत है कि सभी कर्मों का त्याग ही संन्यास है। जिस कर्म के करने से दोष उत्पन्न होते हैं उन्हें नहीं करना चाहिए। यह भी एक मत है कि यज्ञ, दान तथा तप का त्याग नहीं करना चाहिए। इनके अतिरिक्त कर्मत्याज्य है।

निश्चयं श्रृणु में तत्र त्यागे भरतसत्तम।
त्यागो हि पुरुषव्याघ्र त्रिविधः सम्प्रकीर्तितः॥18/4॥
यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम॥18/5॥

एतान्यपि तु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च।
कर्तव्यानीति में पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम॥18/6॥

भावार्थ–ऊपर त्याग और संन्यास के विषय में चार विकलप गिनाए गए हैं। इस विषय में गीता का एक निश्चित मत भिन्न कोटि का है। सात्विक, राजस और तामस तीन तरह का त्याग होता है। बुद्धिमान व्यक्ति को यज्ञ, दान और तप करते ही रहना चाहिए क्योंकि ये पवित्र करने वाले होते हैं। इनके अलावा भी स्वधर्म में विहित कर्मों को आसक्ति और फल की आशा छोड़कर, करते रहना चाहिए।

नियतस्य तु सन्न्यासः कर्मणो नोपपद्यते।
मोहात्तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्तितः॥18/7॥

भावार्थ–स्वधर्म का त्याग करना उचित नहीं है। मोह (अज्ञान) के कारण उनका त्याग करना तामस त्याग है। ज्ञान और वैराग्य से स्वतः कर्म का छूट जाना यहाँ विचार का विषय नहीं है। वह अकाम की स्थिति है।

दुःखमित्येव यत्कर्म कायक्लेशभयात्त्यजेत।
स कृत्वा राजसं त्यागं नैव त्यागफलं लभेत्॥18/8॥
कार्यमित्येव यत्कर्म नियतं क्रियतेअर्जुन।
सांख्ये त्यक्त्वा फलं चैव स त्यागः सात्त्विको मतः॥18/9॥

भावार्थ–सभी कर्म दुख देने वाले हैं, ऐसा सोचकर या शरीर को कर्म करने से कष्ट होगा, इस भय से किया गया त्याग राजस कोटि का है। ऐसा त्याग निष्फल होता है। नियत कर्म करना ही चाहिए। ऐसा समझकर, आसक्ति और फलाशा छोड़ते हुए कर्म करना सात्विक त्याग है। कर्म का नहीं, राग और फल का त्याग ही त्याग है। यह सात्विक कोटि का है।

28. अहंकार का मिथ्यात्व

पञ्चैतानि महाबाहो कारणानि निबोध मे।
साङ्ख्ये कृतान्ते प्रोक्तानि सिद्धये सर्वकर्मणाम्॥18/13॥
अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम्।
विविधाश्च पृथक्चेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम्॥18/14॥
शरीरवाङ्मनोभिर्यत्कर्म प्रारभते नरः।
न्याय्यं वा विपरीतं वा पञ्चैते तस्य हेतवः॥18/15॥

भावार्थ–सांख्य सिद्धान्त में कार्यसिद्धि के लिए पाँच कारण बताए गये हैं। वे हैं– अधिष्ठान, कर्ता, विभिन्न करण, विविध चेष्टाएँ तथा भाग्य। कार्य का आश्रय अधिष्ठान है, इन्द्रियों और भौतिक साधनों को करण कहते हैं शेष तीन स्पष्ट हैं। शास्त्रानुमोदित या विपरीत जो भी कार्य किया जाता है, उनकी सिद्धि में यह पाँचों अंग सदैव रहते

हैं।

तत्रैवं सति कर्तारमात्मानं केवलं तु यः।
पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्न स पश्यति दुर्मतिः॥18/16॥
यस्य नाहङ्कृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।
हत्वापि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते॥18/17॥

भावार्थ—पाँच कारणों के संयोग से सिद्धि होने वाले कार्य का श्रेय केवल कर्त्ता लेकर अहंकार प्रदर्शित करे तो उसकी मूर्खता है। यह दूषित बुद्धि का लक्षण है। अहंकार रहित तथा निर्लिप्त बुद्धि वाला व्यक्ति बुरा से बुरा करने पर भी पापिष्ट नहीं होता है। कर्तापन का अहंकार ही बन्धन का कारण है।

29. त्रिविधि—कर्म, बुद्धि और सुख

नियतं सङ्गरहितमरागद्वेषतः कृतम्।
अफलप्रेप्सुना कर्म यत्तत्सात्त्विकमुच्यते॥18/23॥
यत्तु कामेप्सुना कर्म साहङ्कारेण वा पुनः।
क्रियते बहुलायासं तद्राजसमुदाहृतम्॥18/24॥
अनुबन्धं क्षयं हिंसामनवेक्ष्य च पौरुषम।
मोहादारभ्यते कर्म यत्तत्तामसमुच्यते॥18/25॥

भावार्थ—शास्त्रानुमोदित, आसक्ति तथा राग-द्वेष से रहित, फलेच्छा के विना किया गया कर्म सात्विक होता है। कामना के कारण या अहंकार पूर्वक बहुत परिश्रम से किया गया कार्य राजस होता है। परिणाम, क्षति, हिंसा तथा सामर्थ्य पर ध्यान न देते हुए मोहवश किया गया कार्य तामस होता है।

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये।
बन्धं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी॥18/30॥
यया धर्ममधर्मं च कार्यं चाकार्यमेव च।
अयथावत्प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ राजसी॥18/31॥
अधर्मं, धर्ममिति या मन्यते तमसावृता।
सर्वार्थान्विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी॥18/32॥

भावार्थ—प्रवृत्ति-निवृत्ति (संग्रह-त्याग), कार्य-अकार्य, भय-अभय, बन्धन-मोक्ष, इन सब को भलीभाँति समझाने वाली सात्विक बुद्धि होती है। जिससे धर्म-अधर्म, कार्य-अकार्य का ठीक-ठीक बोध नहीं होता है, वह राजस बुद्धि है। अधर्म को धर्म तथा हितकर बातों को विपरीत समझने वाली तामसी बुद्धि होती है।

यत्तादग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम।
तत्सुखं सात्त्विकं प्रोक्तमात्मबुद्धिप्रसादजम्॥18/37॥

विषयेन्द्रियसंयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम।
परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम।।18/38।।
यदग्रे चानुबन्धे च सुखं मोहनमात्मनः।
निद्रालस्यप्रमादोत्थं तत्तामसमुदाहृतम।।18/39।।

भावार्थ–जो पहले कष्टकर किन्तु परिणाम में अमृत की तरह रहे, बुद्धि और आत्मा को प्रसन्न करने वाला हो वह सुख सात्विक है। इन्द्रियों को उनके विषयों से जो सुख मिलता है, वह पहले अमृत की तरह मीठा लगता है किन्तु परिणाम में विष हो जाता है। ऐसा सुख राजस है। जो आरंभ से लेकर अन्त तक मोह, निद्रा आलस्य, प्रमाद आदि देने वाला है। वह तामस सुख है।

30. प्रपत्ति मार्ग से योग सिद्धि

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारुढानि मायया।।18/61।।
तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्।।18/62।।

भावार्थ–कर्ममें अक्षम लोगों के लिए सरलतम प्रपत्ति का मार्ग है। यही यहाँ बताया गया है। ईश्वर सभी प्राणियों के हृदय में रहकर कठपुतली की तरह उन्हें नचाता रहता है। सब कुछ छोड़कर, उसी की शरण में जाना भी साधना का एक मार्ग है। इससे परमशान्ति और स्थायी पद मिलता है। यहाँ सब कुछ छोड़ने का अर्थ स्वधर्म त्याग नहीं है। गीता में स्वधर्म का विकल्प नहीं है। न्यूनता की पूर्ति हेतु प्रपत्ति मार्ग है।

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे।।18/65।।
सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः।।18/66।।

भावार्थ–ईश्वर मे मन लगाने उन्हीं का भजन करने, उन्हीं को प्रणाम आदि से प्रसन्न करने के द्वारा साधक ईश्वर का प्रिय भक्त हो जाता है। तब श्रद्धानुरूप फल प्राप्त कर लेता है। अनेक प्रपंचों के बजाय उसी ईश्वर की शरण में जाने से भी सभी पापों से मुक्ति मिल जाती है।

समन्वय–यहाँ कर्मयोग को आवश्यक नहीं बताया गया है। वास्तव में प्रयत्ति का मार्ग भी कर्मयोग ही है। इससे ईश्वर की कृपा मिलने पर कर्ममार्ग और उससे सत्वशुद्धि तथा ज्ञान के द्वारा मुक्ति मिलती है। ज्ञान से ही मुक्ति मिलती है। यह ध्रुव सत्य है। प्रपत्ति मार्ग से चलकर दुर्बल भी प्रबल हो जाता है। कर्मयोगी बन जाता है।

31. ईश्वरार्पण

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत ।
यत्तपस्यासि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम।।9/27।।
शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबंधनैः।
सन्न्यासयोगमुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि।।9/28।।

भावार्थ—यावन्मात्र कर्म, योग, हवन-पूजन, दान, तप आदि है, सभी ईश्वर को अर्पित कर देना चाहिए।किसी में अहंकार या आसक्ति न रह जाय। मम से अहंकार होता है। अतः न मम मानना ही श्रेयष्कर है। इसीलिए ईश्वरार्षण का विधान है। ऐसा करने पर अच्छे-बुरे सभी कर्मबन्धन समाप्त हो जाते हैं। यह योग और संन्यास की पूर्णाहुति है।

उपसंहार—आरंभ में ही अर्जुन ने युद्ध से विरत होने के पक्ष में दो प्रश्नों को उपस्थित करके धर्म तथा श्रेय का मार्ग जानने की जिज्ञासा किया था। गुरुजनों तथा आत्मीयजनो की हत्या एवं वर्णसंकरत्व का कर्त्ता होने के कारण लोक निन्दा प्रथम कारण था। युद्ध में पाप कर्मों के कारण धर्म से च्युत, पापिष्ट होने एवं कुलक्षय से नरक का भय दूसरा कारण था। इन दोनों शंकाओं का निराकरण गीता में सम्यक किया गया है।

स्वधर्म को सर्वोपरि प्रतिष्ठित करते हुए यह सिद्ध किया गया है कि लोक निन्दा तथा अधर्म दोनों स्वधर्म के त्याग से ही होते हैं। स्वधर्म पालन करने में जो पाप हो जाता है उसके निराकरण के लिए समत्वयोग, ज्ञानमार्ग तथा ईश्वरार्पण तीन उपाय बताए गए हैं। सात्विक, राजस, तामस गुणों तथा श्रद्धा के रहस्य को समझाकर कर्म में कुशलता का उपाय बताया गया है। जीव, जगत एवं ईश्वर के स्वरूप का निश्चय करके ज्ञान मार्ग की आवश्यकता भी बता दी गयी है। आनुषंगिक विविध ज्ञान विज्ञान की भी चर्चा की गयी है। कर्मयोग से स्वधर्म पालन के साथ ही चित्त शुद्धि भी होती है। ईश्वरार्पण से निरंहकार होकर, शुद्ध चित्त वाला व्यक्ति ज्ञान मार्ग में प्रवेश करके शीघ्र ही परमश्रेय को प्राप्त कर लेता है। इस तरह लोक-परलोक दोनों के लिए उपकारक ज्ञान इस शास्त्र में प्रतिपादित है।

शंङ्करः शन्तनोतुनः

महाप्रयाण के समय
श्रवणीय श्लोक

देहिनोऽस्मिन्यथा देहे कौमारं यौवनं जरा।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति।।2/13।।

न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे।।2/20।।

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही ।।2/22।।

जातस्त हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च।
तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि ।।2/27।।

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत।
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना।।2/28।।

श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला।
समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि।।2/53।।

विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निःस्पृहः।
निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति।।2/71।।

एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति।
स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति।।2/72।।

अंतकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः।।8/5।।

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन।
यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम।।8/13।।